विधि और न्याय का समकालीन विश्लेषण

"न्याय कभी भी दिया नहीं जाता है, यह एक ऐसा कार्य है जिसे हमेशा प्राप्त करना होता है।"

फ्रेडरिक ऐंजल

डा0 राजदेव सिहं असि0 प्रोफे0 विधि विभाग के0जी0के0 (पी0जी0) कालेज मुरादाबाद।

Author Email ID :- rajdeosinghllm@gmail.com

सारांश—विधि और न्याय दो समान किन्तु भिन्न अवधारणाओं को सन्दर्भित करने वाले शब्द हैं। यह दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। न्याय वह साध्य (लक्ष्य) है जिसे विधि रूपी साधन से प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। यह भी सही है कि दोनों भिन्न–भिन्न समयों पर विधिक–व्यवस्था का अंग बने हैं। न्याय की संकल्पना सबसे प्राचीन है। मनुष्य जब से धरती पर आया है, वह न्याय की अपेक्षा करता रहा है। न्याय एक ऐसा शब्द है, जिसकी कई परिभाषायें की जा सकती हैं। इसे किसी निश्चित दायरे में नहीं बाँधा जा सकता है। न्याय अधिकारों की समानता और निष्पक्षता के विचार पर आधारित एक अमूर्त अवधारणा है। वहीं आधुनिक राज्यों की संकल्पना मध्यकाल की उपज मानी जाती है और इन्हीं राज्यों के प्रादुर्भाव के बाद विधि का वर्तमान स्वरूप अस्तित्व में आया। विधि किसी देश की सरकार द्वारा नागरिकों के जीवन और कार्यो को विनियमित करने के लिए बनायें गये नियमों, मानकों, सिद्धांतों और मानदंडों की एक प्रणाली है। प्रारम्भिक समाजों में तो विधि और न्याय को अलग–अलग किया जा सकता था किन्तु आधुनिक शासन–व्यवस्था में यह संभव नहीं है। आज विधि मानव–जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर गयी है। ऐसे में यदि विधि में न्याय का तत्व मौजूद नहीं होगा तो लोग उस विधि को मानने से इंकार कर सकते हैं जो किसी भी विधिक व्यवस्था के लिए घातक हो सकता है। अतः विधिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि सभी विधियॉ न्याय की संकल्पना को आगे बढ़ाने वाली होनी चाहिए।

संकेताक्षर : राज्य, दण्ड, समानता, सुरक्षा, स्वतन्त्रता, नैतिकता, धर्म, सापेक्षता, गन्त्यात्मक, समाज आदि।

I. प्रस्तावना

विधि और न्याय का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन होने के साथ–साथ घनिष्ट भी है। इनके मध्य का सम्बन्ध इतना पेंचीदा है कि इसने सदैव ही बड़े–बड़े विधिज्ञों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। कभी–2 इन दोनों संकल्पनाओं को एक ही सिक्के के दो पहलू भी कहा जाता है, तो दूसरी तरफ यह भी संभव है कि दोनों एक–दूसरे से स्वतन्त्र रहकर भी समाज या राज्य में विद्यमान रह सकती है। प्रत्येक राज्य का मुख्य लक्ष्य मानव कल्याण की उचित व्यवस्था करना है, किन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी की जा सकती है, जब उस राज्य के नागरिक अपने जीवन मे कुछ सामान्य नियमों का पालन करते हों। अतः राज्य अपने नागरिकों के जीवन के सम्यक् संचालन के लिए कुछ नियमों का निर्माण करता है, जिनका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है, और जिनका पालन न करने पर व्यक्ति दण्ड का भागी होता है। राज्य द्वारा निर्मित और लागू किये जाने वाले इन नियमों को ही विधि कहा जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री मैकाइवर का कथन बहुत ही प्रासंगिक है कि "राज्य कानून का शिशु और जनक दोनों ही है।" सरल शब्दों में विधि, आचरण के वें नियम हैं जिन्हे राज्य के द्वारा निर्मित या स्वीकृत किया जाता है और जिनका पालन न करने पर राज्य के द्वारा दण्डित किया जाता है।

प्रारम्भिक समाज से लेकर आज के आधुनिक राज्य की विकास यात्रा में विधि के स्त्रोत में काफी बदलाव आ गये हैं। विधि के परम्परागत वा पुरातन स्त्रोत के रूप में रीति–रिवाज या प्रथायें, धर्म, साम्य–नीति या औचित्य का प्रमुख स्थान है तो वहीं अब इसके आधुनिक स्त्रोत के रूप मे विधायन, न्यायिक निर्णय एवं कानूनी टीकाओं ने स्थान ले लिया है। प्रत्येक विधिक व्यवस्था में कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं जिन्हें विधि को प्राप्त करना है जैसे– राज्य में शांति और व्यवस्था स्थापित करना, मनुष्य की उन्नति में सहायक बनना, मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना, नागरिकों को समान अवसर प्रदान करना और मानव अधिकारों की रक्षा करना। स्वाभाविक रूप से वे विधियाँ, जो उपरोक्त उद्देश्यों की सिद्धि में बाधक होते हैं, बुरी विधि कही जा सकती है। एक सर्वग्राह्य एवं अच्छी विधि के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सरलता एवं स्पष्टता, स्थायित्व, व्यापकता, व्यावहारिकता, निष्पक्षता, नागरिक अधिकारों के रक्षक और मनुष्यों की सर्वागीण प्रगति के रक्षक जैसे तत्व अनिवार्य रूप से मौजूद हो।

अनेक बार प्रश्न उठता है कि लोग विधि का पालन क्यों करते है ? विधि का पालन किसी एक कारण का प्रभाव न होकर अनेक कारणों का सामूहिक परिणाम है जैसे–दण्ड या भय की भावना, विधि की तार्किकता एवं उपयोगिता, विधि निर्माताओं के प्रति सहानुभूति का भाव, मानवीय स्वभाव और आलस्य आदि। इन सब का सम्मिलित प्रभाव यह होता है कि प्रजाजन द्वारा आदतन विधियों का अनुपालन किया जाता है। विधि शासन के लिए यह आवश्यक है कि विधि का पालन सामान्यतः किया जाता हो। विधि यदि कठोर है तो भी उसका अनुपालन सुनिश्चित किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध विधिशास्त्री/दार्शनिक सुकरात का कथन है कि एक राज्य का अस्तित्व उसकी विधि पर निर्भर करता है। विधि यदि बुरी है तो नागरिकों को उसे बदलने का प्रयास करना चाहिए, फिर भी जब तक वह नागरिक बना रहता है, वह विधि का अनुपालन करने के लिए लिए बाध्य है। यदि किसी नागरिक को राज्य की विधि पर आपत्ति है तो उसके समक्ष दो ही विकल्प हैं, प्रथम वह राज्य छोड़कर किसी अन्य सुरक्षित राज्य में चला जायें, या द्वितीय अपने साथियों को विधि में परिवर्तन करने के लिए प्रभावित करे। इसके अलावा कोई अन्य उपाय उसके पास नहीं है, अन्यथा वह राज्य की विधि निष्फल बनाकर राज्य को ही तहस–नहस कर देगा। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि सुकरात विधियों का अंधानुकरण करने की सलाह कभी नहीं देता है, बल्कि व्यक्तियों को विधि की अच्छाई एवं बुराई के आधार पर निर्णय लेने को कहता है। कमोवेश यही दृष्टिकोण आधुनिक विधियों के प्रति आज भी अपनाया जाता है। वैधानिक दृष्टि से तो व्यक्तियों के द्वारा विधि के अनुपालन से इंकार किया ही नहीं जा सकता, किन्तु नैतिकता की दृष्टि से कुछ परिस्थितियों में विधि का अपालन किया जा सकता है बशर्ते ऐसी विधि सार्वजनिक हित के प्रतिकूल हो। किन्तु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि व्यक्तियों के द्वारा विधि के अनुपालन से अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में ही इंकार किया जा सकता है, सामान्य परिस्थितियों में नहीं।

II. न्याय

न्याय की अवधारणा बहुत ही पुरानी है। पुरातन समय से ही इसके बारे में निरंतर लिखा जाता रहा है, फिर भी अभी यह अपूर्ण ही है। मानव सभ्यता का जब से विकास होना शुरू हुआ, तभी से न्याय की संकल्पना लोगों के बीच पनपने लगी और जैसे–जैसे समाज विकसित होता गया, इसका दायरा भी बढ़ता गया। आज न्याय आधुनिक समाज का मुख्य लक्ष्य हो गया है। न्याय को परिभाषित करना सदैव ही एक दुष्कर कार्य रहा है। न्याय, राज्य और विधि दोनों से ही बहुत पुरानी संकल्पना है। यह तब भी अस्तित्व में था, जब इन संस्थाओं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। सभ्यता के विकास के साथ राज्य और विधि समाज के

आधार स्तम्भ हो गये और न्याय इन सभी का अभिष्ट हो गया। किसी भी शासन प्रणाली को सुचारू रूप से संचालित होने के लिए आवश्यक है कि:

(1) व्यवस्था का निर्माण हो, तथा

(2) ऐसी व्यवस्था न्यायी हो

इन दोनों तत्वों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है, यद्यपि दोनों स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में रह सकते हैं, जैसा कि न्याय पहले अकेले अस्तित्ववान रहा भी, लेकिन व्यवस्था के लिए अकेले रहना बेहद मुश्किल है। जैसे किसी योजना का लाभ सिर्फ श्वेत लोग ही उठा सकते है, अन्य नहीं। यद्यपि यह एक व्यवस्था है, लेकिन इसमें न्याय के तत्व की कमी है जिसके अभाव में यह व्यवस्था अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह सकती और देर सबेर जनमानस इसके खिलाफ विद्रोह या क्रांति कर सकता है।

न्याय की अवधारणा हमेशा बदलती रहती है। इसीलिए रोमन काल में न्याय के लिए प्रोटेरियन शब्द (बदलने बाला देवता) का प्रयोग हुआ है। यह प्रत्येक युग, समय, काल, देश एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपना रूप बदलता रहता है। जिसे हम आज न्याय कह रहे हैं हो सकता है कि वह कल न्याय न हो या वर्तमान में जो हमें अन्याय प्रतीत हो रहा है, सम्भव है कि भविष्य में वहीं न्याय हो जाये। जैसे भारत में ही एल0जी0बी0टी0क्यू0 वर्ग के लोगों को पहले किसी भी लिंग का नहीं माना जाता था, किन्तु अब उनको तृतीय लिंग के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी है। ऐसे ही समलैंगिकता को आपराधिकता की कोटि से हटाना भी न्याय के बदलते हुये रूप को प्रदर्शित करता है। न्याय को अभी तक किसी भी विधिशास्त्री द्वारा ठीक से परिभाषित नहीं किया जा सका है। शायद इसीलिए विधिज्ञों ने कहा है कि यह एक चीज है, जिसे प्राप्त करना होता है।

III. प्लेटो

प्लेटो ने न्याय के सिद्धांत (Theory of Justice) का प्रतिपादन किया है। यह प्लेटो के राजनैतिक चिन्तन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) का वैकल्पिक नाम ही न्याय से सम्बंधित (Concerning Justice) रखा है। प्लेटो ने जिस आदर्श राज्य की रूपरेखा तैयार की है, उसका प्रमुख आधार न्याय है। न्याय सिद्धांत से ही रिपब्लिक का प्रारम्भ और अन्त होता है। प्लेटो के अनुसार न्याय यह है कि मनुष्य अपने उन सब कर्त्तव्यों का पालन करे, जिनका पालन समाज के प्रयोजनार्थ किया जाना आवश्यक है। अपनी आवश्यकताओं तथा व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुसार समाज एवं राज्य उनके लिए जिन कर्त्तव्यों एवं धर्मों का निर्धारण करते हैं, उनका यथावत पालन ही न्याय है। न्याय स्वधर्मपालन है। प्लेटो ने जो न्याय की परिभाषा दी वह स्वयं उस समय की वर्ग–व्यवस्था की पोषक थी। इस व्याख्या में न्याय को ऐसा सैद्धांतिक कलेवर दिया गया है जो आज की न्याय की अवधारणा में खटकता है या किसी तत्व की कमी महसूस करता है।

IV. अरस्तू

जहाँ प्लेटो के अनुसार अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य करना न्याय है, वहीं अरस्तू ने न्याय को सद्गुण का व्यावहारिक रूप कहा है। न्याय संगत सद्गुणों का समूह है। एक अर्थ में यह सद्गुण (Virtue) से भी श्रेष्ट होता है। यह सद्गुण का व्यावहारिक प्रयोग है (It is Virtue in action)। जब सद्विवेक (सद्गुण) कार्य रूप में परिणत होता है, तो यह न्याय का रूप ले लेता है। जैसे– विवेकी होना सद्गुण है,

परन्तु दूसरों के साथ विवेकपूर्ण आचरण करना न्याय है। इन्होंने न्याय को अन्य सभी सद्गुणों से श्रेष्टतर स्थान प्रदान किया है और अन्य सभी सद्गुण न्याय का अनुसरण करते हैं।

अरस्तू का न्याय का सिद्धांत कुछ हद तक समानता में निहित है। वितरणात्मक न्याय की अवधारणा में अरस्तू ने आनुपातिक समता के सिद्धांत के अनुसार लोगों के मध्य सांसारिक वस्तुओं के सामयिक वितरण की अपेक्षा की गयी है। समान लोगों में समान वस्तुओं का वितरण और असमानों में असमान वस्तुओं का वितरण किया जाना न्याय का अंग है। अरस्तू की समता का मापदण्ड योग्यता एवं नागरिक उत्कृष्टता है। यद्यपि अरस्तू ने समता को न्याय का मापदण्ड बताया परन्तु व्यवस्था में विस्तृत तौर पर असमानता को ग्राह्य किया, जब उन्होने दासता का समर्थन किया या स्त्रियों पर पुरूषों के अधिकार को सहज एवं आवश्यक मानते हो।

V. अमेरिकन विधिशास्त्री लेस्टरवार्ड

न्याय को समता पर आधारित करते हुए कहते हैं कि "न्याय प्राकृतिक रूप से असमान समाजिक दशाओं में समाज द्वारा कृत्रिम समता के प्रवर्तन में निहित है।" समाज के सभी सदस्यों के बीच असीमित समानीकरण के अवसर होने चाहिए, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को लिंग, मूलवंश, राष्ट्रीयता, वर्ग या सामाजिक उत्पत्ति का बिना ध्यान दिये जीवन में अच्छा बनने और एक सार्थक जीवन जीने का पूर्ण अवसर मिल सके। वार्ड के अनुसार ऐसी स्थिति सिर्फ ऐसे वितरणात्मक शिक्षा पद्धति से प्राप्त की जा सकती है जिसमें समाज के उच्च एवं निम्न सभी वर्ग के लोगों का समान रूप से बौद्धिक विकास हो सके। वह इस बौद्धिकता को वर्ग की उत्पत्ति से सम्बंधित नहीं मानकर यह कहते है कि ये पर्यावरणीय कारकों पर मजबूती से आश्रित होते है, विशेषकर ज्ञान के उपलब्ध साधनों पर पहुँच से। न्याय को समता के ही रूप में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐंजल भी देखते है। समता के सम्बन्ध में मार्क्स कहते है कि "क्षमता के अनुसार देना और आवश्यकता के अनुसार लेना ही समता है।" वैसे तो मार्क्स सीधे तौर पर न्याय के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते हैं लेकिन कुछ व्याख्याकार जैसे– वुड, ल्यूक, हुसामी, कोहेन आदि उनके सिद्धांत को न्याय से जोड़कर देखते हैं।

कुछ विधिशास्त्री न्याय को स्वतन्त्रता के रूप में देखते है। हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार न्याय स्वतन्त्रता में निहित है। वे मानते है कि न्याय के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रतायें जैसे–धार्मिक, वाक् एवं अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा आदि की प्रदान की जाये और इस पर आत्मनियंत्रण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार का नियंत्रण न हो। अर्थात प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता का इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए जिससे किसी अन्य के अधिकारों (स्वतन्त्रता) का हनन न हो। काण्ट भी न्याय को स्वतन्त्रता के रूप में देखते हैं, जब वह कहते हैं कि इसे सार्वभौमिक मान्यता मिलनी चाहिए। काण्ट ने न्याय की परिभाषा उन

दशाओं के समुच्चय के रूप में जिसके अन्दर स्वतन्त्रता की सार्वभौमिक विधि के अनुसार एक व्यक्ति की इच्छा दूसरे व्यक्ति की इच्छा के रूप में जोड़ी जा सकती है।

VI. स्काटलैण्ड के विधिशास्त्री विलियम सार्ले ने स्वतन्त्रता को समता से जोड़ते हुये न्याय की परिभाषा करना अधिक उचित माना है और कुछ सीमा तक समाजिक नियंत्रण को आवश्यक माना । सार्ले के अनुसार यदि स्वतन्त्रता समता को आगे नहीं बढ़ाती तो बहुत आसानी से ये दोनो एक दूसरे के विरोध में आ जाती है। यदि हम दोनों में सामंजस्य नहीं बनायेंगे तो समाज में वर्ग विभाजन को बढ़ावा मिलेगा तथा समाजिक प्रगति भी बाधित हो जायेगी। अतः दोंनो में सामंजस्य होना नितांत आवश्यक है। जैसे– एक कम्पनी का

एम0 डी0 तीन लाख, उसका स्टेनो तीस हजार व उसका कार पार्कर तीन हजार रूपये वेतन पाते हैं। यहाँ पर सभी के पास स्वतन्त्रता है। कार पार्कर और स्टेनो दोनों स्वयं को दक्ष बनाकर एम0डी0 के पद तक पहुँच सकते है लेकिन यदि हम वैसे ही चाहे कि इन तीनों में समता कर दी जाये तो कार पार्कर तो खुश हो जायेगा क्योंकि उसे बिना कुछ किये ही सब कुछ मिलेगा दूसरी तरफ एम0 डी0 तथा स्टेनो को यह स्थिति उचित प्रतीत नहीं होगी और सम्भव है वे अपने पद पर बने रहना ही न चाहें। फलतः कार पार्कर को जो तीन हजार रूपये मिलते हैं, वह भी बन्द हो जायेगा और सामाजिक प्रगति भी अवरूद्ध हो जायगी। अतः सामाजिक प्रगति एवं कार पार्कर के वेतन के लिए यह आवश्यक है कि एम0 डी0 को तीन लाख रूपये वेतन पाने की स्वतन्त्रता मिले।

सार्ले ने स्वतन्त्रता का समता के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए तीन सामाजिक नीतियाँ अपनाने का सुझाव दिया :

1. सार्वभौमिक शिक्षा प्रणाली द्वारा मानव की मानसिक एवं शारीरिक शक्तियों का विकास एवं निर्देश,
2. उत्पादन की सामग्री और औजारों की ऐसी पहुँच सुनिश्चित करना जो लोगों को यथोचित नियोजन प्रदान करे, और
3. ऐसे भौतिक एवं सामाजिक वातावरण का निर्माण करना जो व्यक्ति के विकास में सहायक हो न कि व्यवधान उत्पन करे।

न्याय के समता एवं स्वतन्त्रता के अतिरिक्त कुछ विधिशास्त्री इसे सुरक्षा में निहित मानते है जिसमें थॉमस हॉब्स एवं जेरेमी बेथम प्रमुख हैं। हॉब्स के अनुसार "प्रकृति का यह नियम है कि सम्प्रभु सावधानी के साथ शांति का संरक्षण करे एवं जब इसे प्राप्त किया जाता है और संस्थाओं की सुरक्षा प्रदान की जाती है तो वहाँ शांति को खतरा कम होता है।" हॉब्स के विचार उचित प्रतीत होते हैं क्योंकि समता एवं स्वतन्त्रता तो बाद की बाते हैं, पहले तो व्यक्ति को अपने प्राणों को ही सुरक्षित करना होता है और जहाँ यही असुरक्षित है, तो वहाँ न्याय की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

VII. विधि के माध्यम से न्याय

विधि एवं न्याय के सम्बन्ध में एक जिज्ञाषा उत्पन्न होती है कि समाज में पहले दोनों में से कौन आया। यह निर्विवाद है कि न्याय की संकल्पना प्राचीनकाल से चली आ रही है। मनुष्य जब से धरती पर आया वह सदैव न्याय की अपेक्षा करता रहा है। न्याय कोई विनिर्दिष्ट चीज नहीं है बल्कि यह विभिन्न रूपों जैसे–समता, सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता आदि में निहित होता है। इस प्रकार न्याय एक आदर्शात्मक स्थिति है जिसे प्रत्येक समाज प्राप्त करने का निस्तर प्रयास करता रहता है। सभ्यता के शुरूआती चरण में सामाजिक व्यवस्था रूढि, नैतिकता, धर्म एवं पारिवारिक सम्बन्धों से शासित होती थी। प्रोफे0 हार्ट इस अवस्था को प्रारम्भिक समाज कहते हैं। इस अवस्था में हम विधि एवं न्याय को अलग–2 कर सकते हैं। ऐसा इसलिए सम्भव था क्योंकि तब सामाजिक सम्बन्ध बहुत सरल थे। परन्तु जैसे–2 समाज विकसित होने लगा, व्यक्तियों की आकांक्षायें बढ़ने लगी, सामाजिक सम्बन्ध जटिल होने लगें, जनसंख्या में वृद्धि होने लगी ऐसे स्थिति में सामाजिक नियंत्रण के प्राथमिक स्त्रोत असफल होने लगे। इसी समय व्यवस्था में वर्तमान राज्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा विधि की संकल्पना विकसित होने लगी। पहले जहॉ न्याय प्राप्ति के प्राथमिक स्त्रोत जैसे–धर्म, नैतिकता एवं रूढ़ि हुआ करते थे, वहीं अब इनका स्थान विधि ने ले लिया और विधि अब न्याय प्राप्ति का प्रधान स्त्रोत बन गयी। विधिक व्यवस्था में यह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण

घटना मानी जाती है और इस परिवर्तन पर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा तभी विधि एवं न्याय के सम्बन्ध को हम ठीक से समझ सकते हैं। जैसे समाज गन्त्यात्मक (Dynamic) है, उसी प्रकार न्याय की परिभाषा भी बदलती रहती है। और न्याय की प्राप्ति वहीं की जा सकती है, जहाँ एक व्यवस्था हो। पहले जहाँ सामाजिक व्यवस्था प्राथमिक स्त्रोतों से चलती थी, वहीं अब

समाज के विकसित होने से व्यवस्था का संचालन विधि करने लगी। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि हमें न्याय की प्राप्ति के लिए विधि को महत्त्वपूर्ण हिस्सा मानना ही होगा।

विधि और न्याय को एक दूसरे से अलग किया जा सकता है, लेकिन यह अलगाव बहुत अधिक समय के लिए संभव नही है। मान लीजिए एक ऐसे राज्य में जिसका मुख्य लक्ष्य न्याय प्रदान करना है, लेकिन उस राज्य में कोई विधि नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को किसके लिए न्याय मिलेगा और कैसे मिलेगा यह निश्चित नहीं होने के कारण उसे बड़ी कठिनाई उठानी पड़ सकती है। विधि इसी अनिश्चितता के तत्व को दूर करती है और जहाँ निश्चितता होती है वही न्याय की कल्पना की जा सकती है। दूसरी तरफ हम एक ऐसा उदाहरण लेते हैं जिसमें एक विधिक व्यवस्था भी बनी हो, सब कुछ निश्चित हो किन्तु वहाँ न्याय की कमी हो तो भी ऐसी विधिक व्यवस्था बहुत अधिक समय तक अस्तिवान नहीं रह सकती और वहाँ कभी भी विद्रोह हो सकता है जैसे पिछले दशक में अरब देशों में हुये जनांदोलन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

कहने और सुनने में यह बात बहुत मधुर प्रतीत होती है कि एक विधिहीन न्याय प्रशासन होना चाहिए किन्तु वास्तविकता के धरातल पर यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है। महान पाश्चात्य विचारक प्लेटो ने अपने जीवन के शुरुआती दौर में विधिहीन राज्य (Non law state) की संकल्पना को केन्द्र में रखकर अपना सारा दार्शनिक विचार व्यक्त किया था परन्तु बाद में जब उन्हें समाज या राज्य की वास्तविकता का अहसास हुआ तो वे अपने विचार बदलने के लिए बाध्य हो गये। प्लेटो के सम्मुख एक बड़ी समस्या यह थी कि उनका सम्पूर्ण दार्शनिक विचार विधिहीन राज्य पर ही आधारित था और यह आसान नहीं था कि वे अपने सिद्धांत से पलट जाये। ऐसे में उन्होंने बीच का मार्ग अपनाते हुये विधि वाले राज्य में न्याय प्रशासन को द्वितीय उत्तम शासन के रूप में स्वीकार किया। अरस्तु ने प्लेटो के द्वितीय उत्तम शासन वाले रूप यानि विधि के साथ को सर्वश्रेष्ठ वरीयता प्रदान की और कहा कि "समाज द्वारा सुसंस्कृत व्यक्ति सब प्राणियों में श्रेष्टम होता है परन्तु जब वह बिना विधि और न्याय के जीवन व्यतीत करता है तब वह सबसे भयंकर बन जाता है।" इसी सम्बन्ध में संत आंगस्टीन का कथन है कि यदि राज्यों से न्याय निकाल दिया जाये तो वे डकैतियों के अलावा कुछ नहीं हैं। क्लेटेन्स मोल्सि नामक विधिशास्त्री ने यहाँ तक कहा है कि "न्याय केवल अच्छी विधि के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है और विधि का औचित्य न्याय, युक्तियुक्तिता एवं संस्कृति संक्रमण हैं।" यह सही है कि विधि और न्याय की संकल्पना भिन्न–2 समयों मे अस्तित्व में आयी है लेकिन आज के भौतिकवादी युग में दोनों को अलग–2 करने का जोखिम नहीं लिया जा सकता है। सैद्वांतिक रूप में न्याय प्रशासन विधि के हिसाब से चलना चाहिए। किन्तु कुछ अपरिहार्य और आपवादिक परिस्थितियों में बिना विधि के भी न्याय को मान्यता दी जानी चाहिए। माननीय उच्चतम न्यायालय ने अनेक ऐसे मामलों में जहाँ विधि के प्रावधानों का अभाव है या वे मौन हैं, वहाँ पर अपने निर्णयों से व्यक्यिों को न्याय प्रदान किया है और अभी भी यह सिलसिला जारी है।

VIII. निष्कर्ष

विधि और न्याय दोनों समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपरिहार्य हैं। पहला जहाँ समाज को व्यवस्थित करता है वहीं दूसरा उसको स्थायित्व प्रदान करता है। समाज गन्त्यात्मक है। समाज समय के हिसाब से बदलता रहता है। विधि भी इसी नियम का अनुसरण करती है और समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप स्वयं में बदलाव लाती रहती है। यही स्थिति कमोवेश न्याय के सम्बन्ध में भी है। न्याय एक सापेक्ष (Reletive) अवधारणा है। इसे मापने के मानक सदैव बदलते रहते हैं। यह समाज की तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दशाओं पर बहुत ज्यादा निर्भर करता है। न्याय को हम कई रूपों में जैसे– समानता, सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता में खोजते हैं। आदिम समय में जब लोग बर्बर अवस्था में रहते थे, एक दूसरे के खून के प्यासे थे, तब लोगों के लिए उनकी सुरक्षा ही उनके लिए न्याय थी। आधुनिक समाज में देखें तो ऐसी विधिक व्यवस्था जो पूँजीवादी हो, वह स्वतन्त्रता के रूप में न्याय को देखती हैं और समाजवादी व्यवस्था में यह समता के रूप में विद्यमान मिलती है। इसको हम भारतीय विधिक व्यवस्था मे बेहतर ढंग से समझ सकते है। 1947 में आजादी प्राप्त करने से पूर्व हमारे लिए अंग्रेजों से सुरक्षा ही न्याय थी। आजादी के पश्चात अन्य देशों की भॉति हमने भी एक समाजवादी विधिक–व्यवस्था बनने का प्रयास किया, जिसका आवश्यक लक्षण समता होता हैं और हम इस व्यवस्था पर लगभग 40 वर्षों तक चले भी। लेकिन समाजवादी व्यवस्था में सरकार की लोगों के प्रति अनेक जिम्मेदारी होती है और यदि वह समता की ही बात करती रही तो समाज का विकास अवरूद्ध हो जायेगा तथा राष्ट्र की प्रगति बाधित हो जायेगा। ऐसी अवस्था में सरकार के पास लोगों में बाँटने के लिए सिर्फ गरीबी रह जायेगी। सरकार ने 1991–1992 में इस वास्तविकता को महसूस किया और स्वतन्त्रता को भी पर्याप्त महत्व देते लगी। स्वतन्त्र समाज में

व्यक्तियों की आगे बढ़ने का पर्याप्त अवसर मिलता है और राष्ट्र को प्रगति तीव्र गति से होती है। लेकिन यह अनियंत्रित नहीं होनी चाहिए। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि इसकी एक सीमा हो, नहीं तो अमीर–गरीब के बीच का अन्तर और बढ़ता चला जायेगा। इसके लिए विधि को पर्याप्त हस्तक्षेप करने की जरूरत है। कम्पनी अधिनियम, 2013 इसी दिशा में उठाया गया क्रांतिकारी कदम है। यह कम्पनियों को अपने पिछले तीन वर्षों के शुद्ध लाभों के औसत का 2% सी0एस0आर0 गतिविधियों पर खर्च करने के लिए प्रोत्साहित करता है। पिछले दिनों केन्द्रिय गृह मंत्री ने भारतीय दण्ड संहिता, 1860 को निरसित करने वाले नये विधेयक भारतीय न्याय संहिता को लोकसभा में प्रस्तुत करते हुये कहा कि प्रस्तावित न्याय संहिता का लक्ष्य व्यक्ति को दण्डित करना न होकर उसको न्याय प्रदान करना है। यह सरकार का न्याय के प्रति बदले हुए दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है।

सन्दर्भ–सूचि

1. रॉल्स, प्रोफे0 जॉन – ए थ्योरी ऑफ जस्टिस हावर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (2005)
2. सिमंस, प्रोफे0 एन0 ई0 – सेन्ट्रल इश्यूज इन ज्यूरिसप्रूडेंस–जस्टिस लॉ ऐण्ड राइट्स, इस्टर्न बुक कम्पनी (2003)
3. प्रसाद, डा0 अनिरूद्ध – विधिशास्त्र के मूल सिद्धांत (2016) इस्टर्न बुक कम्पनी लखनऊ
4. डायस, आर0डब्ल्यू0एम0 – ज्यूरिसप्रूडेंस (1994) पांचवा संस्करण, आदित्य बुक्स प्रा0 लि0 नई दिल्ली
5. ध्यानी, एस0 एन0 – ज्यूरिसप्रूडेंस (2015) सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी प्रयागराज
6. टंडन, एम0 पी0 – ज्यूरिसप्रूडेंस (लीगल थ्योरी 2018) इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
7. त्रिपाठी, डा0टी0पी0 – ज्यूरिसप्रूडेंस (2011) इलाहाबाद लॉ एजेन्सी
8. परांजपे, डा0एन0वी0 – विधिशास्त्र एवं विधिक सिद्धांत (2017) सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद
9. त्रिपाठी, डा0वी0एन0मणि0 – विधिशास्त्र एवं विधिक सिद्धांत (2006) सेन्ट्रल लॉ पब्लिकेशंस, इलाहाबाद
10. जैन, डा0 पुखराज – राजनीतिक सिद्धांत (2018) साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा